धवला, जयधवलाके सम्पादनकी विशेषताएँ

डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी', वाराणसी

आगमके पक्षधर विद्वानोंमें से पण्डित फूलचन्द्रजी ही एकमात्र ऐसे विद्वान् हैं जो लगभग अर्द्ध शताब्दी से जिनागमोंके सम्पादन, संशोधन एवं अनुवाद आदिके विभिन्न रचनामूलक कार्योंमें संलग्न हैं। इस वृद्धावस्था में भी उसी तत्परताके साथ आप सम्पादनके कार्य में जुटे रहते हैं। मनुष्यका किसी-न-किसी कार्यसे संयुक्त हो कर उसमें विशेष रूपसे निरन्तर लगे रहना स्वाभाविक है। पण्डितजीका उपयोग सन् १९३९ से शौरसेनी प्राकृत मूल जैनागमों यथा—षट्खण्डागम और कषायपाहुड जैन महान् और बृहद्काय ग्रन्थोंकी टीकायें—धवल, जयधवल और महाधवल इन ग्रन्थोंके सम्पादन तथा अनुवादमें लगा है। अभी कुछ माह पूर्व ही 'जयधवल' का पन्द्रहवाँ भाग प्रकाशित हुआ है। 'धवल' का भाग १ से लेकर ६ तक पुनः संशोधनकर चुके हैं। प्रथम भागका द्वितीय संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुरसे सन् १९७३ में प्रकाशित हुआ था। तबसे आजतक छह भाग मुद्रित हो चुके हैं।

जयधवलाका प्रथम भाग भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरासे सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादक पण्डित फूलचन्द्रजी शास्त्री, पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री और पण्डित महेन्द्रकुमारजी रहे हैं। 'जयधवल' के कुल पन्द्रह भाग हैं। सभी भाग मथुरासे प्रकाशित हुए हैं। इन सभीका सम्पादन तथा राष्ट्र भाषामें अनुवाद विशेष रूपसे पं० फूलचन्द्रजीने ही किया है। मुझे पूज्य पण्डितजीको यह कार्य करते हुए देखने-समझनेका कई वर्षोंतक निकटसे सान्निध्य प्राप्त रहा है। मैंने देखा कि सम्पूर्ण ग्रन्थ और उसका विषय उन्हें जैसे प्रत्यक्ष है। मूल और टीका ग्रन्थकी भाषा भी उन्हें अपनी मातृभाषा जैसी ही लगती है। इतने क्लिष्ट विषयका सरल शब्दोंमें विवेचन विरले ही कर पाते हैं। प्रूफ भी वे स्वयं इसलिए देखते थे ताकि विषय-भाषा और पारिभाषिक शब्दोंकी दृष्टिसे कोई अशुद्धि न रह जाए। इनके इस सम्पादन कार्यकी कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. मुद्रित प्रति तथा हस्तलिखित ताडपत्रीय प्रतियोंका उपयोग किया गया है।

२. जहाँ-कहीं पाठमें व्यत्यय लक्षित हुआ है वहाँ आदर्श प्रति तथा प्राकृत व्याकरणका आश्रय लिया गया है।

३. पाठ-भेदमें एकरूपता बनाये रखनेका सर्वत्र ध्यान रखा गया है।

४. कर्नाटकीय लिपिमें भ्रमवश वाचनके कारण या प्रतिलिपिकारकी असावधानीसे जहाँ ऐसे पाठ परिलक्षित हुए हैं उनका निर्णय मूल ग्रन्थके पाठोंसे करनेके अनन्तर ही अमुक पाठ-भेद किया गया है।

५. जो पाठ मूलमें स्खलित हैं या ताडपत्रके गल जानेसे जो नष्ट हो गये हैं उनका अर्थ तथा प्रकरण की दृष्टिसे उनके विषयमें विचारकर कोष्ठकमें दिया गया है।

६. जो पाठ मूलमें अर्थ और प्रकरणकी दृष्टिसे असंगत प्रतीत हुए, उनको उसी पृष्ठमें टिप्पणीमें दिखाकर मूलमें संशोधन कर दिया गया है।

७. जहाँ मूल और आदर्श प्रतिके पाठोंमें क्रम-दोष है उनमें संशोधन कर आगत पाठको पाद-टिप्पणीमें दे दिया गया है।

८. मात्राओंकी अशुद्धिको व्याकरणके नियमानुसार शुद्ध कर दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. आदर्श प्रतिमें कहीं संशोधन रूपमें शुद्ध प्रयोग लक्षित हुए और कहीं अशुद्ध ही रह गये, उन सबमें एकरूपता स्थापित की गई।

१०. वाक्य या शब्दकी पूर्ति बिन्दु रखकर की गई है। आवश्यकताके अनुरूप पूर्ति की गई है।

जयधवलाके अनुवाद कार्यकी भी अपनी विशेषता है। भाषा सरल होनेपर भी विषयके अनुरूप है। विशेष रूपसे विशेषार्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन विशेषार्थोंमें जबतक सिद्धान्तका सम्यक् अध्ययन न हो, तबतक विषय के सामान्य सूत्र समझमें नहीं आते। जैसे कि "जयधवल" की आठवीं पुस्तकके छठे अधिकारमें यह कहा गया है—"वह शेष इक्कीस प्रकृतियोंका कदाचित् संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक है।" इसे विशेषार्थमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"सूत्रमें यह बतलाया है कि जो मिथ्यात्वका संक्रामक है वह कदाचित् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क आदि २१ प्रकृतियोंका संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक। जब तक इन इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम नहीं होता तब तक संक्रामक है और उपशम हो जानेपर असंक्रामक है। इसपर यह शंका हुई कि जो द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि २१ प्रकृतियोंका उपशम करता है उसके दर्शनमोहनीयत्रिकका भी उपशम रहता है, अतः जैसे उसके २१ प्रकृतियोंका संक्रम नहीं होता वैसे मिथ्यात्वका भी संक्रम नहीं होना चाहिये, इसलिए मिथ्यात्वका संक्रामक उक्त २१ प्रकृतियोंका असंक्रामक भी है यह कहना नहीं बनता है। इस शंकाका जो समाधान किया है, उसका भाव यह है कि दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उदयमें न आना यहीं उनका उपशम है, अतः उनका उपशम रहते हुए भी संक्रम बन जाता है। इसलिए चूर्णिसूत्रकारने जो यह कहा है कि 'जो मिथ्यात्वका संक्रामक है वह शेष २१ प्रकृतियोंका कदाचित् संक्रामक है और कदाचित् असंक्रामक है' सो इस कथनमें कोई बाधा नहीं आती है। आशय यह है कि उपशमनाके विधानानुसार २१ प्रकृतियोंका सर्वोपशम होता है, किन्तु तीन दर्शनमोहनीयका उपशम हो जानेपर भी उनका यथासम्भव संक्रम और अपकर्षण ये दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं, अतः उक्त कथन बन जाता है।"

इस प्रकार प्रकरण व सन्दर्भके अनुसार अनेक सूत्रोंका स्थान-स्थानपर स्पष्टीकरण किया गया है। उसके बिना अनुवाद मात्रसे कुछ समझमें नहीं आता। कहीं-कहीं विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए तुलनात्मक टिप्पण एवं प्रकरणसे सम्बन्धित तथ्यकी व्याख्या की गई है। उदाहरणके लिए, कालानुग क्रमकी दृष्टिसे कहा गया है—'उपशम सम्यग्दृष्टियोंका नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। अतः यहाँ सब प्रकृतियोंकी अल्पतर स्थितिका काल उक्त प्रमाण बतलाया है। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंका भी जानना चाहिए। किन्तु सासादन सम्यग्दृष्टियोंका जघन्य काल एक समय है। अतः यहाँ जघन्य काल एक समय बतलाया है। उत्कृष्ट काल पूर्ववत् है। कार्मणकाययोग और अनाहारक जीवोंका सर्वदा काल है। यही बात औदारिकमिश्र की है। अतः यहाँ सब प्रकृतियोंके सम्भव पदोंका काल औदारिकमिश्रके समान बन जाता है। किन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी अल्पतर स्थिति वालोंके कालमें विशेषता है। बात यह है कि एक जीवकी अपेक्षा कार्मणकाययोग और अनाहारक अवस्थाका उत्कृष्ट काल तीन समयसे अधिक नहीं है और सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी सत्ता वाले जीव असंख्यात होते हुए भी स्वल्प हैं। अब यदि उपक्रम कालकी अपेक्षा विचार किया जाता है तो यहाँ आवलिके असंख्यातवें भागसे अधिक काल नहीं प्राप्त होता। अतः यहाँ दोनों प्रकृतियोंकी अल्पतर स्थिति वालोंका जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है।"

उक्त विशेषार्थमें विभिन्न अपेक्षाओंसे विचारकर आचार्यके भावका स्पष्टीकरण किया गया है जो निःसन्देह सैद्धान्तिक समीक्षाकी दृष्टिसे आगम अनुकूल तथा प्रकरणोचित है। इसी प्रकारसे प्रकरणके अन्तर्गत जहाँ संक्षेपमें किसी प्रश्नका संकेतकर उसका समाधान किया है (मूल में), वहीं अनुवादमें 'शंका' तथा 'समा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान लिखकर उनको अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। इनमें कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न तथा उनके उत्तर सम्मिलित हैं। जैसेकि—शंका—उपशमसम्यक्त्वके कालमें तीन दर्शनमोहनीयकी स्थितिके निषेक द्वितीय स्थितिमें अवस्थित रहते हैं, अतः उनका गलन नहीं होनेके कारण अवस्थित काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्राप्त होता है, उसे यहाँ क्यों नहीं ग्रहण किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ पर तीनों कर्मोंकी कर्मस्थितिके समयोंके प्रत्येक समयमें गलते रहनेपर स्थितिका अवस्थान माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाय कि निषेकोंको स्थितिपना प्राप्त हो जाएगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि द्रव्यको पर्याय रूप माननेमें विरोध आता है। अर्थात् निषेक द्रव्य हैं और उनका एक समय तक कर्म रूप आदि रहना पर्याय है। चूँकि द्रव्यसे पर्याय कथंचित् भिन्न है, अतः पर्यायके विचारमें द्रव्यको स्थान नहीं। जिसके सम्यक्त्वकर्मकी सत्ता नहीं है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वको ग्रहण करता है तब उसके सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके प्रथम समयमें एक समय तक अवक्तव्यस्थितिविभक्ति होती है, क्योंकि पहले अविद्यमान सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की इनके उत्पत्ति देखी जाती है। इस अवक्तव्यस्थितिविभक्तिका काल एक समय ही है, क्योंकि दूसरे समयमें अल्पतर स्थितिविभक्ति उत्पन्न हो जाती है।

करणानुयोगके इन महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें जिनवाणीकी सूक्ष्मताके साथ अत्यन्त गम्भीरता पद-पद पर लक्षित होती है। यथार्थमें भगवन्त आचार्य भूतबलिके गूढ़ रहस्यको समझकर सरल भाषामें प्रकट करना अपने आप एक महान् कार्य है जो सभी दृष्टियोंसे श्लाघनीय है, विषय इतना सूक्ष्म और गहन है कि हम तुच्छ बुद्धि वाले उसकी क्या समीक्षाकर सकते हैं ? केवल प्रस्तुतीकरणके सम्बन्धमें ही दो-चार शब्द कहकर अपने भाव प्रस्तुत कर सकते हैं।

कहना न होगा कि क्या भाव, क्या अर्थ, क्या सम्पादन और क्या सिद्धान्तशास्त्र ? सभी दृष्टियोंसे धवल, जयधवल आदि महान् ग्रन्थोंको अपने वास्तविक रूपमें प्रकटकर पण्डितजीने महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। हम उनके प्रति प्रशंसाके भाव ही प्रकाशित कर सकते हैं। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इतना अधिक कार्य सर्वांग सुन्दर है फिर भी प्रथम बारमें एक साथ इतना बड़ा कार्य देखकर यह आश्चर्य अवश्य होता है कि जो कार्य एक समृद्ध बड़ी संस्थाके माध्यमसे कई विद्वान् मिलकर एक युगमें सम्पन्न कर पाते, वह अकेले व्यक्तिने कुछ ही वर्ष में सम्पूर्ण कर दिया। इसलिये यदि यह कहा जाय कि जैन सिद्धान्त, आगम तथा अध्यात्मके क्षेत्रमें पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य किसी विश्वकोषसे कम नहीं हैं, तो अत्युक्ति न होगी तथा इस कार्यके द्वारा आदरणीय पण्डितजी स्वयं इस परम्पराकी महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गये हैं।

आदरणीय पण्डितजीकी यह भी विशेषता रही है कि अच्छे सम्पादन, अनुवाद और विवेचन आदि कार्यों हेतु जहाँसे जो सहायता मिल सकती है, उसे लेनेके लिए ही सदा तत्पर रहते हैं। महाबन्ध पुस्तक तृतीयके सम्पादकीयमें उन्होंने सम्माननीय बन्धु रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा सहारनपुरके श्री नेमिचन्द्रजी वकीलके सहयोगके प्रति आभार प्रकट किया है और लिखा है—स्थितिबन्धका अन्तिम कुछ भाग अवश्य ही उन्होंने देखा है और उनके सुझावोंसे लाभ भी उठाया गया है। आशा है कि भविष्यमें इस सुविधाके प्राप्त करनेमें सुधार होगा और उनका आवश्यक सहयोग मिलता रहेगा। वास्तवमें करणानुयोगका वास्तविक पारखी उनकी ही परख कर सकता है। हमने तो जो कुछ पढ़ा और समझा है उसके आधारपर इतना ही कह सकते हैं कि इस क्षेत्रमें पण्डितजीका योगदान सचमुच महान् और गौरवपूर्ण है। वर्तमान और भावी पीढ़ी जिनवाणी सेवाके इस पुण्य कार्यको इस समय तथा आगे सदा-सदा याद करती रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org